आत्मा के दर्शन कराने वाला प्रैक्टिकल, गुरुदेव के साथ

मैं क्या हूँ ?

WHAT AM I

पं. श्रीराम शर्मा आचार्य
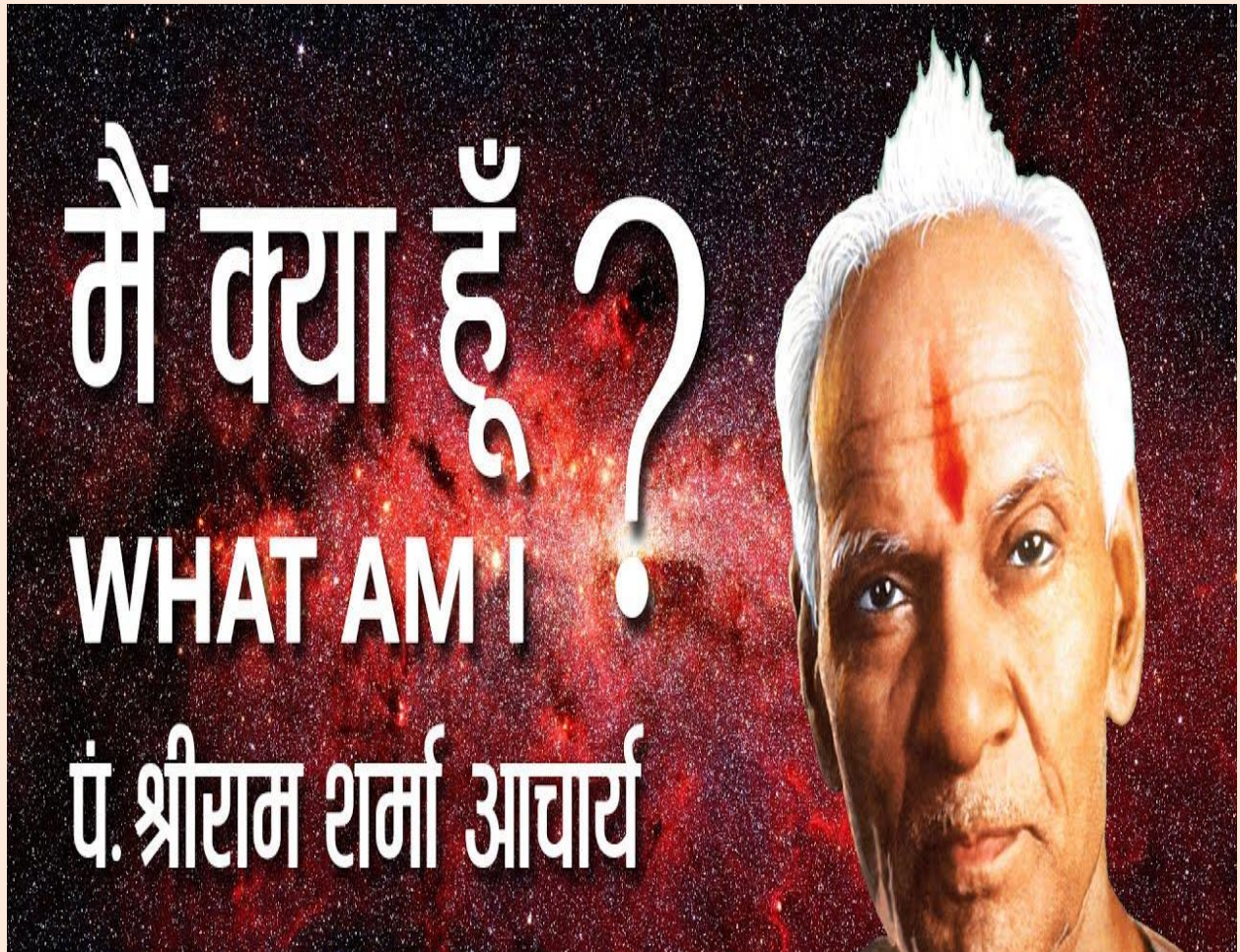
युगऋषि पंडित श्रीराम शर्मा की 1940 में प्रकाशित प्रथम दिव्य रचना “मैं क्या हूँ ?” के अध्याय 2 पर आधारित इस Practical exercise को वर्णन करने का केवल एक ही उद्देश्य है, “मैं क्या हूँ?” प्रश्न का उत्तर ढूंढना।

गुरुदेव इस प्रैक्टिकल के बारे में लिखते हैं:

“विश्वास रखो,हम तुम्हें भ्रम में फँसाने या कोई गलत हानिकारक साधन बताने नहीं जा रहे हैं। हमारा निश्चित विश्वास है एवं हम शपथपूर्वक कहते हैं कि हमारे ऊपर विश्वास रखने वाले साधकों के लिए यह रास्ता बिल्कुल ठीक है, हमारा देखा हुआ है। हमारे

पीछे-पीछे चले आओ, तुम्हें कहीं भी ज़बरदस्ती धकेला नहीं जायेगा बल्कि एक ठीक स्थान पर पहुँचा दिया जायगा।”

****

अच्छा चलो, अब साधना की ओर चलें। किसी एकान्त स्थान की तलाश करो। इस प्रयोग के लिए वही स्थान उत्तम हो सकता है जहाँ किसी प्रकार का भय या आकर्षण की वस्तुएँ न हों। यद्यपि पूर्ण एकान्त के लिए आदर्श स्थान हमेशा प्राप्त नहीं होते, फिर भी जहाँ तक हो सके एकांत और कोलाहल रहित स्थान तलाश करना चाहिए। इस कार्य के लिए नित नये स्थान बदलने की अपेक्षा एक ही स्थान नियत कर लेना उचित है। वन, पर्वत, नदी तट आदि की सुविधा न हो तो एक छोटा सा कमरा चुन लेना ठीक रहेगा। गुरुदेव का बहुत ही सरल सा सन्देश है जिसके अनुसार वोह कहते हैं:

“जहाँ भी तुम्हारा मन जुट जाए वही स्थान ठीक है। सुखासन में अर्थात ऐसे बैठो जिससे नाड़ियों पर तनाव न पड़े, अकड़कर, छाती या गर्दन फुलाकर, हाथों को मरोड़कर,पाँवों को ऐंठकर एक-दूसरे के ऊपर चढ़ाते हुए बैठने के लिए हम नहीं कहेंगे, क्योंकि इन अवस्थाओं में शरीर को कष्ट होगा और वह अपनी पीड़ा की पुकार बार-बार मन तक पहुँचाकर Concentration में विघ्न डालने के लिए विवश करेगा। शरीर को बिल्कुल ढीला (शिथिल) कर देना चाहिए, जिससे समस्त माँसपेशियाँ ढीली हो जावें और देह का प्रत्येक कण शिथिलता, शान्ति और विश्राम का अनुभव करे। इस प्रकार बैठने के लिए आराम कुर्सी बहुत अच्छी चीज है। चारपाई पर लेट जाने से भी काम चल जाता है लेकिन सिर को कुछ

ऊँचा रखना जरूरी है। मसनद, कपड़ों की गठरी या दीवार का सहारा लेकर भी बैठा जा सकता है। बैठने का कोई भी तरीका हो लेकिन सबसे महत्वपूर्ण ध्यान रखने की बात यह है कि शरीर रुई की गठरी जैसा ढीला पड़ जाए, उसे अपनी साज सँभाल में जरा-सा भी प्रयत्न न करना पड़े। उस दशा में यदि समाधि चेतना आने लगे, तब शरीर के इधर-उधर लुढ़क पड़ने का भय न रहे।”

इस प्रकार बैठकर कुछ देर के लिए शरीर को विश्राम और मन को शान्ति का अनुभव करने दो। शुरू शुरू में यह अभ्यास विशेष प्रयत्न के साथ करना पड़ता है लेकिन बाद में अभ्यास बढ़ जाने पर तो साधक जब चाहे तब शान्ति का अनुभव कर लेता है, चाहे वह कहीं भी और कैसी भी दशा में क्यों न हो ।

सावधान रहिए कि यह दशा आपने न तो स्वप्न देखते हुए, कल्पना करते हुए किसी चमत्कार के उद्देश्य से पैदा की है और न ही इसलिए कि मन के एकान्त वन में इन्द्रिय विकार समाप्त होकर कबड्डी खेलने लगेगें। ध्यान रखिए अपनी इस ध्यानावस्था को भी काबू में रखना और इच्छानुवर्ती बनाना आपका ही काम है क्योंकि इस अवस्था का चयन आपने स्वयं ही किसी निश्चित उद्देश्य की प्राप्ति के लिए किया है। शुरू के कुछ ही दिन एक निश्चित अनुशासन का पालन करना पड़ता है, बाद में तो ध्यान की यह अवस्था आपकी चेतना का एक महत्वपूर्ण अंग बन जाती है और फिर सदैव स्वयमेव बनी रहती है। तब उसे ध्यान द्वारा उत्पन्न नहीं करना पड़ता बल्कि भय, दुःख, क्लेश, आशंका, चिन्ता आदि

के समय में बिना यत्न के ही वह जाग पड़ती है और साधक अनायास ही उन दुःख क्लेशों से बच जाता है।

उपरोक्त ध्यानावस्था में होकर अपने सम्पूर्ण विचारों को "मैं" के ऊपर इकट्ठा करो। किसी बाहरी वस्तु या किसी मनुष्य के सम्बन्ध में बिल्कुल विचार मत करो। भावना करनी चाहिए कि

"मेरी आत्मा यथार्थ में एक स्वतंत्र पदार्थ है। वह अनन्त बल वाली अविनाशी एवं अखण्ड है। मेरी आत्मा एक सूर्य है, जिसके इर्द- गिर्द सारा संसार अनवरत ठीक उसी तरह घूम रहा है, जैसे सूर्य के चारों ओर नक्षत्र आदि घूम रहे हैं।"

मनुष्य को चाहिए कि वोह स्वयं को केन्द्र, सूर्य जैसा प्रकाशवान माने, उसे चाहिए कि वोह लगातार इस भावना की कल्पना करते हुए मानसलोक की रचना शक्ति के सहारे स्थिर होने की प्रैक्टिस करे। मानसलोक एक विशाल, अनंत आकाश है, उसमें अपनी आत्मा को सर्य रूप मानते हुए केन्द्र की तरह स्थित हो जाएँ और आत्मा के इलावा अन्य सब चीजों को ऐसे देखने का प्रयत्न करें जैसे नक्षत्र सूर्य के इर्द-गिर्द घूम रहे हों। कल्पना करें कि सभी नक्षत्र मुझसे बंधे हुए हैं लेकिन मैं उनसे बँधा नहीं हूँ। सूर्य की भांति मैं अपनी शक्ति से उनका संचालन कर रहा हूँ। कल्पना एवं परिश्रम के बाद कुछ ही दिनों में यह चेतना इतनी दृढ़ हो जाएगी कि आपको आनंद की अनुभूति होने लगेगी।

वह भावना झूठी या काल्पनिक नहीं है। विश्व का हर एक जड़-चेतन परमाणु बराबर घूम रहा है। सूर्य के आसपास पृथ्वी आदि ग्रह घूमते हैं और समस्त सौर मण्डल एक *“अदृश्य चेतना”* की परिक्रमा करता रहता है।

हृदय में व्याप्त चेतना के कारण रक्त हमारे शरीर की परिक्रमा करता रहता है। शब्द, शक्ति, विचार या अन्य प्रकार के “भौतिक परमाणुओं” का धर्म परिक्रमा करते हुए आगे बढ़ना है। हमारे आसपास की प्रकृति का यह स्वाभाविक धर्म अपना काम कर रहा है। हमसे भी जिन परमाणुओं का काम पड़ेगा वह स्वभावतः हमारी परिक्रमा करेंगे क्योंकि हम चेतना के केन्द्र हैं।

इस "स्वाभाविक चेतना" को भलीभाँति हृदयंगम कर लेने से तुम्हें अपने अन्दर एक विचित्र परिवर्तन मालूम पड़ेगा। ऐसा अनुभव होता हुआ प्रतीत होगा कि मैं चेतना का केन्द्र हूँ और मेरा संसार मुझ से सम्बन्धित है, समस्त भौतिक पदार्थ मेरे इर्द-गिर्द घूमते रहते हैं। मकान, कपड़े, जेवर धन, दौलत आदि मुझ से सम्बन्धित हैं लेकिन वह मुझमें व्याप्त नहीं हैं बिल्कुल अलग है।

स्वयं को "चेतना का केन्द्र" समझने वाला मनुष्य, अपने को "माया (भ्रम)" से सम्बन्धित मानता है लेकिन पानी में पड़े हुए कमल के पत्ते की तरह कुछ ऊँचा उठा रहता है, उसमें डूब नहीं जाता। जब वह अपने को तुच्छ,

अशक्त और बँधे हुए जीव की अपेक्षा चेतन सत्ता और प्रकाश केन्द्र स्वीकार करता है, तो उसे उसी के अनुसार परिधान (कपड़े) भी मिलते हैं। बच्चा जब बड़ा हो जाता है तो उसके छोटे कपड़े Reject कर दिये जाते हैं। जब तक मनुष्य स्वयं को हीन, नीच और शरीराभिमानी तुच्छ जीव समझता रहेगा, तब तक उसी के लायक कपड़े मिलेंगे।

इस भौतिकतावादी संसार में रहते हुए मनुष्य को लालच, भोग- विलास की इच्छा, काम-वासना की इच्छा, चाटुकारिता, स्वार्थपरता आदि गुण भी अपनाने पड़ते हैं, यह परिधान भी पहनने पड़ते हैं लेकिन जब उसे अपने स्वरूप को महानतम अनुभव करने का ज्ञान प्राप्त हो जाता है ,तब यह सभी आवरण, परिधान कपड़े निरर्थक हो जाता है।

छोटा बच्चा कपड़े में मल-मूत्र त्यागने में कुछ बुराई नहीं समझता, किन्तु बड़ा होने पर वह ऐसा करने से घृणा करता है, ऐसी स्थिति कभी बीमारी की दशा में आ जाए तो स्वयं को बड़ा धिक्कारता है और शर्मिन्दा होता है। नीच विचार, हीन भावनाएँ, पाशविक इच्छाएँ और क्षुद्र स्वार्थपरता ऐसे ही गुण हैं, जिन्हें देखकर

आत्मचेतना में विकसित हुआ मनुष्य घृणा करता है। ऐसे मनुष्य को स्वतः ही वह गुण मिल जाते हैं, जो उसके शरीर के लिए उपयुक्त होते हैं। उदारता, विशाल हृदयता, दया, सहानूभूति, सच्चाई प्रभृति गुण ही तब उस मनुष्य के ठीक वस्त्र बन जाते हैं। दुर्गुण उससे विदा होने लगते हैं और सद्‌गुण क्रमशः बढ़ते ही जाते हैं।

गुरुदेव एक बहुत ही महत्वपूर्ण बात के प्रति सतर्क कर रहे हैं कि स्वयं को “प्रकाश केन्द्र” अनुभव करने के लिए तर्कों से काम न चलेगा क्योंकि हमारे तर्क बहुत ही लंगड़े और अन्धे हैं। तर्कों के सहारे यह सिद्ध नहीं हो सकता कि वास्तव में वही हमारा पिता है, जिसे हम पिताजी कहकर सम्बोधित करते हैं। इसलिए योगाभ्यास के दिव्य अनुष्ठान में इस अपाहिज तर्क को

नकारना पड़ता है और धारणा,ध्यान एवं समाधि को अपनाना पड़ता है। आत्मस्वरूप के अनुभव में यह तर्क-वितर्क बाधक न बनें इसलिए कुछ देर के लिए इन्हें विदा कर दो।

साधना की विधि में बार-बार ध्यानावस्थित होकर मानसलोक में प्रवेश करो। स्वयं को सूर्य के समान प्रकाशवान सत्ता के रूप में देखो और अपना संसार स्वयं के आस-पास घूमता हुआ अनुभव करो। इस अभ्यास को लगातार जारी रखो, इसे हृदय पटल पर पूर्ण गहराई से अंकित कर लो एवं ऐसी श्रेणी पर पहुँच जाओ कि जब तुम “मैं” कहो तो चित्त में चेतना, विचार, शक्ति और प्रतिभा सहित केन्द्र स्वरूप उस परमसत्ता का चित्र भी जाग उठे।

उपर्युक्त आत्मस्वरूप दर्शन के साधन में शीघ्रता होने के लिए तुम्हें हम एक और विधि बताते हैं।

ध्यान की दशा में होकर अपने ही नाम को बार-बार, धीरे- धीरे, गम्भीरता और इच्छापूर्वक जपते जाओ। इस अभ्यास से मन आत्मस्वरूप पर एकाग्र होने लगता है।

इंग्लैंड के प्रसिद्ध कवि और विचारक लार्ड टेनिसन ने अपनी आत्मशक्ति को इसी उपाय से जगाया था। वे लिखते हैं:

"इसी उपाय से हमने कुछ आत्मज्ञान प्राप्त किया है। अपनी वास्तविकता और अमरता को जाना है एवं अपनी चेतना के मूल स्रोत का अनुभव कर लिया है।"

उपरोक्त भावना का तात्पर्य यह नहीं है कि तुम शरीर की उपेक्षा करने लगो । ऐसा करना तो अनर्थ होगा। शरीर को "आत्मा का पवित्र मन्दिर" समझो, उसकी हर प्रकार से रक्षा करना और सुदृढ़ बनाये रखना तुम्हारा परम पावन कर्तव्य है।

शरीर से अलग होने की भावना जब तक साधारण रहती है, तब तक तो साधक का मनोरंजन होता है लेकिन जैसे ही वह भावना दृढ़ता को प्राप्त होती है, वैसे ही मृत्यु हो जाने जैसा अनुभव होने लगता है और वह वस्तुएँ दिखाई देने लगती हैं, जिन्हें हम साधना के स्थान पर बैठकर खुली स्थूल आँखों से नहीं देख सकते। उस समय सूक्ष्म जगत की कुछ धुंधली सी झाँकी होती है और कुछ अप्रतक्ष्य बातें एवं दिव्य दृश्य दिखाई देने

लगते हैं। इस स्थिति में नये साधक डर जाते हैं। उन्हें समझना चाहिए कि इसमें डरने की कोई बात नहीं है। केवल साधन में कुछ शीघ्रता हो गई है और पूर्व संस्कारों के कारण इस चेतना में जरा-सा झटका लगते ही चेतना अचानक जाग पड़ी है। ज्यों ज्यों चेतना की इस श्रेणी तक पहुँचने में अभ्यास होता जाता है, तो कोई आश्चर्य नहीं होता, कोई डर नहीं लगता।

साधना की इस उच्च श्रेणी पर पहुँचकर अभ्यासी को वह योग्यता प्राप्त हो जाती है कि सचमुच "शरीर के दायरे" से ऊपर उठ जाय और उन वस्तुओं को देखने लगे, जो शरीर में रहते हुए नहीं देखी जा सकती थी। अभ्यासी इस श्रेणी, में शरीर से सम्बन्ध तोड़ नहीं देता। जैसे कोई आदमी कमरे की खिड़की में से गर्दन बाहर निकालकर

देखता है कि बाहर क्या हो रहा है और फिर इच्छानुसार गर्दन को भीतर कर लेता है,यही बात इस दशा में भी होती है।

गुरुदेव सावधान करते हुए लिखते हैं कि हम नये दीक्षितों को अभी यह अनुभव जगाने की सलाह नहीं देते, ऐसा करना जल्दबाज़ी के साथ-साथ, क्रम का उल्लंघन करना भी होगा। समय आने पर हम “अप्रतक्ष्य दर्शन” की शिक्षा भी देंगे। इस समय तो संक्षिप्त सा उल्लेख इसलिए करना पड़ा है कि अगर किसी को स्वयमेव ऐसी चेतना आने लगे, तो उसे घबराना या डरना न चाहिए।

जीव के अमर होने के सिद्धांत को अधिकांश लोग विश्वास के आधार पर स्वीकार कर लेते हैं लेकिन उन्हें

यह जानना चाहिए कि यह सत्य कोरी कल्पना नहीं है बल्कि स्वयं जीव द्वारा अनुभव में आकर सिद्ध हो सकती है।

तुम ध्यानावास्थित होकर ऐसी कल्पना करो कि “हम” मर गये। कहने-सुनने में यह बात साधारण सी मालूम होती है। जो साधक पिछले लेखों में प्रकाशित हुई भावनाओं का अभ्यास करते हैं, उनके लिए यह छोटी सी कल्पना कुछ कठिन प्रतीत नहीं होनी चाहिए लेकिन जब तुम इसे करने बैठोगे तो यही कहोगे कि यह नहीं हो सकती। ऐसी कल्पना करना असम्भव है। तुम शरीर के मर जाने की कल्पना कर सकते हो लेकिन साथ ही यह पता रहेगा कि तुम्हारा “में” नहीं मरा है बल्कि वह दूर खड़ा हुआ मृत शरीर को देख रहा है। इस प्रकार

पता चलेगा कि किसी भी प्रकार अपने "मैं" के मर जाने की कल्पना नहीं कर सकते। विचार बुद्धि हठ करती है कि आत्मा मर नहीं सकती। उसे जीव के अमरत्व पर पूर्ण विश्वास है और चाहे जितना प्रयत्न किया जाय, वह अपने अनुभव के त्याग के लिए तैयार नहीं होगा। मनुष्य के क्लोरोफार्म सूँघ कर बेहोश हो जाने पर भी उसका "मैं" जागता ही रहता है। यदि ऐसा न होता तो उसे जागने पर यह ज्ञान कैसे होता कि मैं इतनी देर बेहोश पड़ा रहा हूँ, बेहोशी और निद्रा की कल्पना हो सकती है लेकिन जब "मैं" की मृत्यु का प्रश्न आता है, तो चारों ओर अस्वीकृति की प्रतिध्वनि ही गूँजती है। कितने हर्ष की बात है कि जीव अपने अमर और अखण्ड होने का प्रमाण अपने अन्दर ही दृढ़तापूर्वक धारण किए हुए है।

"अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयम ल्केद्योऽशोष्य एवच। नित्यः सर्वगतस्याणुचलोऽयं सनातनः॥" अर्थात "आत्मा अविनाशी है, यह नित्य है, सर्वव्यापी परमाणुओं में चलायमान है एवं शाश्वत (जिसका कोई अंत नहीं है)।"

जीव को यानि स्वयं को अमर, अखण्ड, अविनाशी और भौतिक संवेदनाओं से परे समझना, आत्मस्वरूप दर्शन का आवश्यक अंग है। ऐसी अनुभूति हुए बिना सच्चा आत्मविश्वास नहीं होता। सदिओं से पनप रही तुच्छता की भावना में जीव फिसल पड़ता है, जिससे अभ्यास का सारा प्रयत्न गुड़-गोबर हो जाता है। मनुष्य स्वयं को महान समझने के बजाए तुच्छ समझता रहता है, उसे अपनी अनंत शक्ति का आभास ही नहीं हो पाता। इसी

तुच्छ प्रवृति में वोह एकाग्रचित होकर साधना भी नहीं कर सकता।

गुरुदेव इस स्थिति (तुच्छता) से निकलने के लिए एकाग्रता पूर्वक, अच्छी तरह अनुभव करने को कह रहे हैं कि आप स्वयं से साक्षात्कार करो और कहो कि "मैं तुच्छ नहीं हूँ, मैं अविनाशी हूँ।" अभी कुछ दिन पहले ही (6 मई 2024 के लेख में) मानवीय विद्युत लेख श्रृंखला में हम सबने देखा था कि स्वयं को तुच्छ समझ लेना आत्महत्या है।

यहाँ एक और बात बड़ी ही महत्वपूर्ण यह है कि स्वयं को तुच्छ समझने का अर्थ है उस परमात्मा को तुच्छ समझना जिसके हम अंश हैं। नल को टोंटी और विशाल

टंकी में जल देने की समान क्षमता है तो फिर मैं स्वयं को तुच्छ क्यों समझूँ।

AYMATMA BRAHM
(THIS VERY SOUL IS BRAHM (GOD))
AS THE OCEAN IS WATER, SO ALSO A DROP IS WATER. EVERY RAY OF THE SUN HAS THE VIRTUE OF THE SUN. HOWSOEVER SMALL THE SOUL MAY BE, IT HAS THE CAPABILITY OF UNITING WITH BRAHM; AND AFTER UNION WHO IS SMALL OR BIG? BOTH TAP AND TANK ARE CAPABLE OF GIVING WATER SO WHY SHOULD I REMAIN SMALL AND MISERABLE; WHY NOT BECOME ALL-POWERFUL?

विश्व का एकमात्र "भटका हुआ देवता" मंदिर युगतीर्थ शांतिकुंज में स्थित है। इस मंदिर में लगे पांच दर्पणों के समक्ष खड़े होकर मनुष्य आत्मनिरक्षण करता है

सुजाता बहिन जी का एक बार फिर धन्यवाद् है

अयमात्मा ब्रह्म-(यह आत्मा ही ब्रह्म है) सागर भी जल है-
बूंद भी तो जल ही है। हर किरण में सूर्य का गुण है। आत्मा चाहे जितना छोटा अंश हो, उसमें
ब्रह्म से जुड़ने की क्षमता है और उससे जुड़ने के बाद छोटा-बड़ा क्या? नल की टोंटी और
विशाल टंकी-दोनों में पानी देने की समान क्षमता है, तो दीन क्यों बनूँ समर्थ बनकर क्यों न रहूँ?

यहाँ हम एक बार फिर से युगतीर्थ शांतिकुंज स्थित, विश्व के एकमात्र “भटका हुआ देवता” मंदिर में जाकर पांच दर्पणों में से एक के समक्ष चित्रित दिव्य सन्देश केअर्थ को समझने का प्रयास करेंगें। इस लेख के साथ संलग्न चित्र में यह सब जानकारी दी गयी है। आदरणीय सुजाता बहिन जी का एक बार फिर धन्यवाद् है जिन्होंने सभी पांचों दर्पणों की अति सुंदर फोटोग्राफी की थी।

गुरुदेव हमें सतर्क होने के कह रहे हैं कि अगर अखंड अविनाशी होने की स्थिति को अच्छी तरह अनुभव में न ला सको तो आगे मत बढो। जब आगे बढ़ने लगोगे, तब भी कभी-कभी लौटकर अपने इस स्वरूप को, जिसमें आप स्वयं को तुच्छ समझने की गलती कर रहे

हो, का फिर निरीक्षण कर लो। यह भावना आत्मस्वरूप के साक्षात्कार (आत्मा के साथ इंटरव्यू) में बड़ी सहायता देगी।

आगे वह परीक्षण बताये जाते हैं, जिनके द्वारा स्वयं को अविनाशी,शाश्वत,नित्य अनुभव किया जा सकता है ।

मेरा शरीर मात्र मेरे पहनने वाले कपड़ों के समान है :

कुछ जिज्ञासु साधक आत्मस्वरूप का ध्यान करते समय "मैं" को शरीर के साथ जोड़कर गलत धारणा कर लेते हैं और साधना करने में गड़बड़ा जाते हैं। इस विघ्न को दूर कर देना आवश्यक है अन्यथा इस "पंचभूत शरीर" को आत्मा समझ बैठने पर तो एक अत्यन्त नीच कोटि का थोड़ा सा फल प्राप्त हो सकेगा। इस स्पीड ब्रेकर को दूर

करने के लिए, ध्यान-मग्न होकर ऐसी भावना करो कि मैं शरीर से अलग हूँ। उसका उपयोग वस्त्र या औजार की तरह करता हूँ। शरीर को वैसा ही समझने की कोशिश करो, जैसा पहनने के कपड़े को समझते हो। अनुभव करो कि शरीर को त्यागकर भी "मैं" आत्मा का बना रह सकता है। शरीर को त्यागकर उसे और अधिक ऊँचे स्थान से देखने की कल्पना करो। शरीर को एक खोखले घोंसले के रूप में देखो, जिसमें से तुम्हारी आत्मा आसानी से बाहर निकल सकती है । ऐसा अनुभव करो कि इस खोखले हड्डियों के पिंजर को "मैं" (यानि आत्मा) ही स्वस्थ, बलवान, दृढ़ और गतिवान बनाये हुए हूँ, उस पर "मैं" ही शासन करता हूँ और इच्छानुसार काम में लाता हूँ। मैं शरीर नहीं हूँ, शरीर

तो मात्र मेरा उपकरण है, Equipment है जिससे मैं स्वार्थवश अपने काम निकलवा रहा हूँ। यहाँ हम मोबाइल फ़ोन का उदाहरण दे सकते हैं,जिसकी keys से कमांड देकर हम इस समय अपना काम निकलवा रहे हैं।इसी स्थिति को और अच्छी तरह से समझने के लिए शरीर को एक मकान भी समझा जा सकता है जिसमें आत्मा थोड़ी देर के लिए विश्राम करने आती है। मेरा शरीर भौतिक परमाणुओं से बना हुआ है और उन परमाणुओं को "मैं (आत्मा)" ही अपनी इच्छा के अनुसार चलाता हूँ।

"तो हुआ न शरीर आत्मा का दास, नौकर, गुलाम।

ध्यान में शरीर को पूरी तरह भुला दो और "मैं" पर समस्त भावना एकत्रित कर लो, तब तुम्हें मालूम पड़ेगा

कि आत्मा शरीर से भिन्न है। यह अनुभव कर लेने के बाद जब तुम “मेरा शरीर” कहोगे तो पूर्व की भाँति नहीं बल्कि एक नये ही अर्थ में कहोगे।

ध्यान की अवस्था में आत्मस्वरूप को देह से अलग करो और क्रमशः उसे आकाश, हवा, अग्नि, पानी, पृथ्वी की परीक्षा में से निकलते हुए देखो। कल्पना करो कि मेरी देह की बाधा हट गई है और अब “मैं” स्वतंत्र हो गया हूँ, मेरी आत्मा स्वतंत्र हो गयी है।अब मैं इच्छापूर्वक आकाश में ऊँचे-नीचे पखेरुओं की तरह जहाँ चाहूँ उड़ सकता हूँ । हवा के वेग से गति में कुछ भी बाधा नहीं पड़ती और न उसके द्वारा जीव कुछ सूखता ही है। कल्पना करो कि बड़ी भारी आग की ज्वाला जल रही है और तुम उसमें होकर मजे में निकल जाते हो और कुछ

भी कष्ट नहीं होता है। भला आत्मा को आग कैसे जला सकती है? उसकी गर्मी की पहुँच तो सिर्फ शरीर तक ही थी। इसी प्रकार पानी और पृथ्वी के भीतर भी आत्मा की पहुँच वैसे ही है जैसे आकाश में अर्थात् कोई भी तत्त्व आत्मा को छू नहीं सकता और तुम्हारी स्वतन्त्रता में तनिक भी बाधा नहीं डाल सकता।

ऐसी भावना आते ही आत्मा का स्थान शरीर से ऊँचा ही नहीं होता बल्कि उसको प्रभावित करने वाले पंच तत्त्वों से भी ऊपर उठता है। आत्मा देखने लगती है कि मैं देह ही नहीं बल्कि उसके निर्माता पंच-तत्त्वों से भी ऊपर हूँ।

आज मेरा नया जन्म हुआ है:

अनुभव की इस चेतना में प्रवेश करते ही तुम्हें प्रतीत होगा कि आज मेरा नया जन्म हुआ है। अपने अंदर नवीन शक्ति का संचार होता हुआ प्रतीत होगा। अब ऐसा विश्वास होगा कि जिन वस्तुओं से "मैं" अब तक डरा करता था वे मुझे कुछ भी हानि नहीं पहुँचा सकतीं। शरीर तक ही उनकी गति है। सो ज्ञान और इच्छा-शक्ति, संकल्प-शक्ति द्वारा इन भयों को भी शरीर से दूर हटाया जा सकता है।

गुरुदेव बार-बार समझाते हुए कह रहे हैं कि प्राथमिक शिक्षा का बीज मंत्र "मैं" ही है। इसका पूरा अनुभव करने के बाद ही "आध्यात्मिक उन्नति" के पथ पर अग्रसर हो सकोगे। तुम्हें अनुभव करना होगा कि मेरी सत्ता शरीर से भिन्न है।स्वयं को सूर्य के समान शक्ति का

एक महान् केन्द्र मानना होगा, जिसके इर्द-गिर्द समस्त संसार घूम रहा है। ऐसा करते ही नवीन शक्ति का संचार होगा,जिसे तुम्हारे साथी प्रत्यक्ष अनुभव करेंगे। तुम स्वयं स्वीकार करोगे कि अब मैं सुदृढ़ हूँ और जीवन की आँधियाँ, जीवन के उतार-चढ़ाव, मुझे विचलित नहीं कर सकतीं। केवल इतना ही नहीं इससे भी आगे बहुत कुछ है। आप अनुभव करोगे कि आत्मिक विकास के साथ-साथ, आपके अंदर वोह योग्यता आती दिखेगी जिसके द्वारा जीवन की आँधियों को शान्त किया जा सकता है और उन आँधियों पर शासन किया जा सकता है।

आत्मज्ञानी मनुष्य जीवन के भारी कष्टों की दशा में भी संतुलित एवं स्थिर रहेगा और अपनी भुजा उठाकर कष्टों

से कहेगा, “जाओ, चले जाओ, जिस अन्धकार से तुम उत्पन्न हुए हो उसी में विलीन हो जाओ।”

धन्य है वह मनुष्य जिसने “मैं” के बीज मंत्र को सिद्ध कर लिया है।

<u>आत्मज्ञान के इस प्रैक्टिकल का समापन परम पूज्य गुरुदेव निम्नलिखित पंक्तियों से कर रहे हैं:</u>

जिज्ञासुओ! प्रथम शिक्षा का अभ्यास करने के लिए अब हमसे अलग हो जाओ। अपनी मन्द गति देखो, तो उतावले मत होओ। आगे चलने में यदि पाँव पीछे फिसल पड़े तो निराश मत होओ। आगे चलकर तुम्हें दुगना लाभ मिलेगा । सिद्धि और सफलता तुम्हारे लिए

है, वह तो प्राप्त होनी ही है। बढ़ो, शांति के साथ थोड़ा प्रयत्न करो और इस मंत्र को बार-बार दोहराओ:

मैं प्रतिभा और शक्ति का केंद्र हूँ ।

मैं विचार और शक्ति का केंद्र हूँ ।

मेरा संसार मेरे चारों ओर घूम रहा है।

मैं शरीर से भिन्न हूँ ।

मैं अविनाशी हूँ, मेरा नाश नहीं हो सकता।

मैं अखंड हूँ , मेरी क्षति नहीं हो सकती

****